



ISSN Print: 2394-7500
 ISSN Online: 2394-5869
 Impact Factor: 5.2
 IJAR 2017; 3(3): 931-935
www.allresearchjournal.com
 Received: 24-01-2017
 Accepted: 14-02-2017

डा० कैवल्य चैतन्य

सूर्या अपार्टमेंट, फ्लैट नं०- 102
 आदमपुर, भागलपुर, बिहार, भारत

संस्कृत स्वरों का उच्चारण – वैशिष्ट्य

डा० कैवल्य चैतन्य

सारांश

सभी स्वरों के उच्चारण में वायु का प्रवाह समान ही रहता है। इनके उच्चारण में जिह्वा की विभिन्न स्थितियों द्वारा वायु को विभिन्न स्वरों का रूप दिया जाता है। इन स्वरों के अंतर्गत एकमात्र अवर्ण ही ऐसा स्वर है जिसके ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत तीनों रूपों में कालकृत भेद के साथ-ही-साथ प्रयत्न-कृत भेद भी रहता है। अन्य स्वरों के इन तीनों भेदों में केवल कालकृत-भेद ही होता है। इवर्ण के तीनों रूपों – ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत का उच्चारण स्थान तालु प्रदेश माना जाता है। इस वर्ण के उच्चारण में जिह्वा के मध्य भाग को तालु के समीप ले जाया जाता है। यदि इवर्ण की उच्चारण सीमा से जिह्वा ऊपर उठेगी तो वह इवर्ण के बदले 'य' हो जायेगा। उवर्ण को ओष्ठ स्थानीय वर्ण स्वीकार किया गया है। इसमें ऊपर के ओष्ठ को स्थान एवं नीचे के ओष्ठ को करण माना गया है। ऋकार एवं लृकार के उच्चारण को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ 'ऋ' को मूर्धन्य एवं 'लृ' को दन्त्य ध्वनियों मानते हैं। एकार तथा ऐकार को तालव्य स्वर माना गया है। ओकार को ओष्ठ्य एवं औकार को कंठोष्ठ्य माना गया है।

मुख्य शब्द : ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, कालकृत, प्रयत्नकृत, तालु-प्रदेश, ओष्ठस्थानीय, करण, मूर्धन्य, दन्त्य।

प्रस्तावना:

स्वरों के उच्चारण में फेफड़े से निःसृत वायु जब स्वर-यंत्र के पास पहुँचती है, तो स्वर-तंत्रियों के दोनों परदे परस्पर समीप आ जाते हैं। परिणामस्वरूप वायु मुखविवर में पहुँचती है। मुख-विवर में वायु के मार्ग में न तो किसी प्रकार की रुकावट होती है और न ही वायु को किसी प्रकार की संकीर्णता का सामना करना पड़ता है। स्वरों के उच्चारण में जिह्वा की विभिन्न स्थितियों के द्वारा वायु को विविध स्वरों का रूप दिया जाता है।

आलेख (Main thrust)

स्वरों के उच्चारण में फेफड़े से निःसृत वायु श्वासनलिका द्वारा जब स्वर यंत्र के पास पहुँचती है तो स्वर-तंत्रियों के दोनों परदे परस्पर समीप आ जाते हैं। परिणामस्वरूप वायु 'नादरूप' द्रव्य में परिवर्तित होकर मुख-विवर में पहुँचती है। मुख-विवर में वायु के मार्ग में न तो किसी प्रकार की रुकावट ही होती है और न तो वायु को किसी प्रकार की संकीर्णता का सामना करना पड़ता है। स्वरों के उच्चारण में वायु को जिह्वा की स्थितियों के अनुसार मुख-विवर में रुकना नहीं पड़ता। स्वर-ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा की विभिन्न स्थितियों द्वारा वायु को विविध स्वरों का रूप दिया जाता है। स्वरों के उच्चारण में जिह्वाग्र, जिह्वापश्च आदि ऊपर-नीचे होते हैं। ओष्ठ भी कभी तो विभिन्न अनुपात में गोलाकार हो जाते हैं और कभी अपनी स्वाभाविक स्थिति में ही रहते हैं। अनुनासिक स्वरों के अतिरिक्त अन्य स्वरों के उच्चारण में कोमलतालु कुछ सीमा तक ऊपर उठकर नासरन्ध्रमार्ग को बन्द कर लेता है। जिसके परिणामस्वरूप वायु मुख-विवर से ही बाहर निकल जाती है। वस्तुतः सभी स्वरों के उच्चारण में वायु का प्रवाह समान ही रहता है। अन्तर केवल जिह्वा की विभिन्न स्थितियों का होता है। अब प्रातिशाख्यों के आधार पर स्वरों के उच्चारण में होने वाली विभिन्न क्रियाओं के सहित प्रत्येक स्वर की उच्चारण-प्रक्रिया का विशद विवेचन क्रमशः नीचे किया जा रहा है।

स्वरों के अन्तर्गत अवर्ण ही ऐसा स्वर है, जिसके ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत तीनों रूपों के कालकृत-भेद के साथ-ही-साथ प्रयत्न-कृत भेद भी रहता है। अन्य स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत भेदों में केवल कालकृत-भेद ही होता है। अर्थात् ह्रस्व स्वर को अधिक काल में उच्चरित करने से दीर्घ स्वर की निष्पत्ति हो जाती है तथा उसी को और अधिक काल में उच्चरित करने से प्लुत स्वर की निष्पत्ति भी हो जाती है। ह्रस्व अकार का आभ्यन्तर-प्रयत्न सभी प्रातिशाख्य एवं व्याकरण-ग्रन्थों में 'संवृत' माना

Corresponding Author:

डा० कैवल्य चैतन्य

सूर्या अपार्टमेंट, फ्लैट नं०- 102
 आदमपुर, भागलपुर, बिहार, भारत

गया है, जबकि दीर्घ अकार एवं अकार के अन्य भेदों (प्लुत आदि) के उच्चारण में मात्राकृत भेद ही कारण है। च० अ०, वा० प्रा० एवं पा० सू० के अनुसार अकार संवृत-प्रयत्न वाला वर्ण है। ऋ० तं० में अकार को विवृततर आस्य प्रयत्न वाला वर्ण स्वीकार किया गया है। वा० प्रा० के अनुसार ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत अकार का उच्चारण-स्थान कण्ठ है तथा कण्ठ उच्चारण-स्थान होने से वा० प्रा० के अनुसार 'हनुमध्य' करण है। अर्थात् वा० प्रा० के विधान के अनुसार अवर्ण के उच्चारण के समय वायु को कण्ठ स्थान पर विकृत होना पड़ता है तथा इस विकार के परिणामस्वरूप हनुमध्य में कुछ क्रियाशीलता आ जाती है। तै० प्रा० में विधान किया गया है कि अवर्ण के उच्चारण में ओष्ठ और हनु न तो अत्यधिक समीप में होते हैं और न अत्यधिक दूर ही होते हैं। अर्थात् अवर्ण के उच्चारण में दोनों ओष्ठ और दोनों हनु, परस्पर न तो अत्यधिक दूर ही रहते हैं और न ही अधिक समीप। तै० प्रा० के भाष्यकारों का कहना है कि एक ही वर्ण के उच्चारण में दोनों कार्यों का होना समुचित नहीं हो सकता। अतः इनका योग-विभाग कर लेना चाहिए। ऐसा करने पर ह्रस्व अवर्ण के उच्चारण में हनु (जबड़ों) की पारस्परिक समीपता एवं दीर्घ अवर्ण तथा प्लुत अवर्ण के उच्चारण में पृथक्त्व (अर्थात् दूर-दूर रहने) की संगति बैठ जाती है। भाष्यकारों द्वारा किया गया यह विषय-विभाग अन्य ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रन्थों को भी मान्य है, क्योंकि अकार के उच्चारण में संवृत संज्ञक आभ्यन्तर-प्रयत्न को सभी विद्वान् एकमत से स्वीकार करते हैं। इससे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि अवर्ण के तीनों रूपों के उच्चारण में ओष्ठों और जबड़ों की स्थिति समान नहीं रहती है। इस तथ्य की पुष्टि सूत्रकार ने स्वयं कर दी है।¹ इस सूत्र में यह विधान किया गया है कि जिन वर्णों के उच्चारण हेतु ओष्ठों की अवस्था का निर्देश नहीं किया गया है, उनके उच्चारण में ओष्ठों की स्थिति अकार के उच्चारण की भांति होती है।² यदि अकार, आकार एवं आ३कार के उच्चारण में ओष्ठों की स्थिति एक समान ही होती तो इस सूत्र में अकार का प्रयोग न करके अवर्ण का प्रयोग किया गया होता। तै० प्रा० २। 12 की व्याख्या में वैदिकाभरणकार ने 'हनु' को स्थान एवं दोनों ओष्ठों को करण स्वीकार किया है तथा कुछ शिक्षायें अवर्ण का स्थान 'सृक्वि' (मुख का कोना) मानती हैं। ऋ० प्रा० में अकार को कण्ठ से उच्चरित होने वाला वर्ण स्वीकार किया गया है।³ च० अ० १। 19 में कण्ठ्यवर्णों का करण अधःकण्ठ को बतलाया गया है। च० अ० के भाष्यकार के अनुसार अवर्ण कण्ठ स्थान से उच्चरित होता है। तात्पर्य यह है कि च० अ० का भाष्यकार कण्ठ के ऊपरी भाग को अवर्ण का स्थान एवं निचले भाग को अवर्ण का करण मानता है। ऋ० प्रा० २। २ एवं पा० शि० १७ में भी अवर्ण को कण्ठस्थानीय वर्ण स्वीकार किया गया है। वा० प्रा० की ज्योत्स्नावृत्ति में कण्ठ्य वर्णों का करण जिह्वामध्य को बतलाया गया है।⁴ पा० सू० १। १। ९ पर म० भा० में ह्रस्व अकार का दीर्घ एवं प्लुत आकार के साथ होने वाली सवर्णता के प्रसङ्ग में पूर्वपक्ष के रूप में कहा गया है कि अवर्ण का स्थान आस्यबहिर्भूत होने से उसकी दीर्घ एवं प्लुत के साथ सवर्णता नहीं है। अर्थात् अवर्ण का उच्चारण स्थान कण्ठ है। कण्ठ मुख से बाहर स्थित है ; अतः अवर्ण की अपने सभी रूपों के साथ सवर्णता नहीं हो सकती। इस पर सिद्धांत पक्ष प्रस्तुत किया गया है कि कतिपय आचार्य अवर्ण को संपूर्ण मुख-स्थान से उच्चरित होने वाला वर्ण मानते हैं।⁵ आ० शि० में भी अवर्ण को संपूर्ण मुख-प्रान्त से उच्चरित होने वाला वर्ण स्वीकार किया गया है।⁶ इन ग्रन्थों के लेखकों का तात्पर्य यही है कि अवर्ण के उच्चारण में मुख के अन्तर्गत स्थित किसी अंगविशेष को किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं करनी पड़ती है। म० भा० में यह भी कहा गया है कि संध्यक्षरों में मिश्रित रहने वाला अवर्ण 'विवृततर' आस्य प्रयत्न वाला होता है। ऋ० प्रा० में यह विधान किया गया है कि अकार की करणावस्था से ही अन्य स्वरों का उच्चारण करना चाहिए।⁷ वस्तुतः ऋ० प्रा० का यह कथन कि सभी स्वरों को अकार की

करणावस्था से उच्चरित करना चाहिए, ध्वनि-वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व रखता है। ऋ० प्रा० में आचार्य शौनक कतिपय आचार्यों के मतों को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि सघोष व्यंजनों में जो घोषत्व है वह अकार के कारण है और अनुनासिक व्यंजनों में जो घोषत्व है वह अनुस्वार के कारण है।⁸ अकार शुद्ध घोष ध्वनि है। इसके उच्चारण में केवल स्वर-यंत्र का ही उपयोग होता है। इसके उच्चारण में वायु के मुख-विवर में आ जाने पर मुख के अन्तर्गत स्थित अंगों द्वारा उसमें कोई विशेष विकार नहीं हो पाता। इसीलिए आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक अकार को उदासीन स्वर कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अकार के उच्चारण में मुख-विवर में स्थित उच्चारणावयव उदासीन रहते हैं। अकार के उच्चारण के समय किसी भी उच्चारणांग की स्थिति स्वर-ध्वनियों के उच्चारण में होने वाली स्थिति से भिन्न नहीं होती। इसीलिये तै० प्रा० में कहा गया है कि सभी स्वरों के उच्चारण में ओष्ठों की स्थिति अकार के उच्चारण के समान ही होती है। अकार को 'मिश्रित स्वर' कहा जा सकता है। यह सभी स्वरों का आधार है। स्वर-यंत्र से प्राप्त शुद्ध घोष ध्वनि (अकार) को मूलकारण के रूप में अपनाते हुए जब हम मुख-विवर को कुछ संकरा करके जिह्वा के अगले भाग को विभिन्न ऊँचाइयों तक उठाते हैं तो ए, ऐ, इ तथा ई वर्णों की उत्पत्ति होती है। दूसरी ओर जब हम जिह्वा के पिछले भाग को ऊपर की ओर विभिन्न ऊँचाइयों तक उठाते हैं तथा मुख को बन्द-सा करके होठों को गोलाकार बनाते हैं तब ओ, औ, उ तथा ऊ वर्णों की उत्पत्ति होती है। अपने आधारभूत स्वर अकार की भांति सभी स्वर सघोष होते हैं। सभी के उच्चारण के समय स्थान एवं करण का पारस्परिक स्पर्श नहीं होता है। केवल मुख के अवयवों की आकृति एवं जिह्वा की ऊँचाई में ही, अन्तर आ जाता है। तै० प्रा० में स्पष्टतः कहा गया है कि जिन स्वर-वर्णों के उच्चारण में जिह्वा की स्थिति का निर्देश नहीं किया गया है उनके उच्चारण में जिह्वा मुख-विवर में शान्त रूप में पड़ी रहती है। इससे ऐसा स्पष्ट होता है कि अवर्ण के उच्चारण में जिह्वा की स्थिति का निर्देश नहीं किया गया है। अतः अवर्ण के उच्चारण में जिह्वा शान्त रूप में पड़ी रहती है।⁹ यही जिह्वा जब विभिन्न ऊँचाइयों तक ऊपर उठती है तो अन्यान्य स्वरों की उत्पत्ति हो जाती है।

कतिपय आधुनिक ध्वनि-वैज्ञानिक यह स्वीकार करते हैं कि अकार के उच्चारण में जिह्वामूल ऊपर उठकर कोमलतालु के समीप चला जाता है, जिससे वायु के प्रवाह में किंचित् अवरोध उत्पन्न हो जाता है। वैदिक संहिताओं को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि संहिताओं की रचना के समय अकार का उच्चारण विवृत रूप में होता रहा होगा। कालान्तर में धीरे-धीरे यह संवृत उच्चरित होने लगा होगा। इसका प्रबल प्रमाण यह है कि वैदिक ऋचाओं में 'अ' की अभिनिहित संधि, जैसे - अग्ने+अत्र त्र अग्नेऽत्र, लौकिक संस्कृत की अपेक्षा बहुत कम स्थलों पर प्राप्त होती है। जहाँ होती भी है वहाँ छन्द के पाठ-विधान के अनुसार सन्धि को समाप्त करके पाठ किया जाता था। यदि संधि का आधार हमारा स्वाभाविक उच्चारण है, तो यह स्पष्ट है कि विवृत 'अ' की अपेक्षा संवृत 'अ' की अभिनिहित संधि अधिक स्वाभाविक है। महाभाष्य में आकार को विवृत उच्चरित होने का उल्लेख प्राप्त होता है। जिसका प्रमुख कारण सवर्णग्राहकता को बतलाया गया है।¹⁰

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रातिशाख्यों के काल में ह्रस्व 'अ' का उच्चारण संवृत आस्य प्रयत्न द्वारा ही होता था तथा स्थान और करण के विषय में स्पष्टतः सभी प्रातिशाख्यों में मतैक्य तो नहीं पाया जाता, परन्तु तात्त्विक दृष्टि से सभी के मत समान ही हैं। अकार को मात्राधिक्य के साथ उच्चरित करने से दीर्घ एवं प्लुत आकार की उपलब्धि होती है। आकार के उच्चारण के प्रसंग में च० अ० में विधान किया गया है कि आकार का उच्चारण विवृततम आस्य-प्रयत्न द्वारा होता है। अर्थात् आकार के उच्चारण में मुख-विवर अधिक खुला रहता है। इससे

ऐसा स्पष्ट होता है कि च० अ० की रचना के समय अथर्ववेद के मन्त्रों का पाठ करने वाली प्रक्रियाओं के आकार, एकार तथा ओकार स्वरों के उच्चारण में मुख-विवर की समान अवस्था रहती थी।

इवर्ण के ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत सभी रूपों का उच्चारण-स्थान 'तालु-प्रदेश' माना जाता है। तै० प्रा० में जिह्वामध्य को इवर्ण के उच्चारण में सक्रिय अंग (करण) स्वीकार करते हुए कहा गया है कि इवर्ण के उच्चारण में जिह्वामध्य को तालु के समीप लाना चाहिए।¹¹ तात्पर्य यह है कि इवर्ण के उच्चारण में जिह्वा के मध्य भाग को तालु के समीप ले जाते हैं तथा इस अवस्था को तब तक बनाये रखते हैं, जब तक इवर्ण का उच्चारण होता रहता है। इस स्थिति को नष्ट कर देने से इवर्ण का उच्चारण होना भी नष्ट हो जाता है। इस स्थिति में यदि जिह्वा को इवर्ण के उच्चारण की अवस्था से अधिक ऊपर उठायेंगे तो इवर्ण का समानस्थानी अन्तस्थ व्यंजन (यकार) उच्चरित हो जाएगा तथा यदि जिह्वामध्य द्वारा तालु का स्पर्श हो जाएगा तब चवर्गीय वर्ण का उच्चारण हो जाएगा। वा० प्रा० तथा च० अ० के अनुसार इवर्ण के उच्चारण में तालु 'स्थान' तथा जिह्वामध्य 'करण' है। ऋ० प्रा० तथा ॠ० तं० में तालु को इवर्ण का स्थान कहा गया है, परन्तु करण के विषय में सूत्रकार मौन हैं। परवर्ती वैयाकरण भी इवर्ण के उच्चारण-स्थान के रूप में तालु प्रदेश को ही बतलाते हैं।

वास्तव में इवर्ण तथा अन्य सभी तालव्य वर्णों को तालु के कठोर प्रदेश में उच्चरित होने के कारण 'कठोर तालव्य' स्वर कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। इवर्ण के उच्चारण की प्रक्रिया के प्रसंग में सभी प्रातिशाख्य एकमत हैं।

सभी प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा-ग्रंथों में उवर्ण के ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत सभी रूपों को ओष्ठस्थानीय वर्ण स्वीकार किया गया है। इन वर्णों के उच्चारण में नीचे का ओष्ठ सक्रिय होने से करण एवं ऊपर का ओष्ठ अचल होने से स्थान का कार्य करता है। तै० प्रा० में स्पष्टतः कहा गया है कि उवर्ण के उच्चारण में दोनों ओष्ठों का परस्पर उपसंहार होता है।¹² यहाँ ओष्ठोपसंहार से तात्पर्य पूर्ववत् सन्निकृष्टतामात्र नहीं है, अपितु दोनों ओष्ठ परस्पर समीप में आकर फैल जाते हैं तथा फैलकर लंबे हो जाते हैं। जिससे वे आगे की ओर निकल जाते हैं।¹³ ध्यातव्य है कि सभी उच्चारणावयवों में जिन्हें स्थान कहा गया है, उनमें ओष्ठ ही एक ऐसा अंग है जो निष्क्रिय न होकर सक्रिय रहता है। च० अ० में ओष्ठ्य वर्णों के करण के रूप में अधरोष्ठ को स्वीकार किया गया है तथा भाष्कर द्वारा उवर्ण को भी ओष्ठ्यवर्ण ही माना गया है। वा० प्रा० के अनुसार उवर्ण के उच्चारण में ओष्ठ ही स्थान तथा करण दोनों होते हैं। तात्पर्य यह है कि उवर्ण के उच्चारण में ऊपर का ओष्ठ स्थान तथा नीचे का ओष्ठ करण है। ऋ० प्रा०, व्यास शिक्षा तथा ॠ० तं० के आधार पर भी उवर्ण का उच्चारण ओष्ठ स्थान से ही होता है।

ओष्ठ्य स्वरों के उच्चारण में होने वाले ओष्ठोपसंहार के विषय में तै० प्रा० में अत्यन्त सूक्ष्मता से विचार किया गया है। इस सूत्र का तात्पर्य है कि यदि किसी शब्द में एक से अधिक ओष्ठ्य स्वर हैं, तब प्रत्येक ओष्ठ्य स्वर में पृथक्-पृथक् ओष्ठोपसंहार न होकर केवल वहीं पर पृथक् ओष्ठोपसंहार होगा जहाँ दो ओष्ठ्य स्वरों के मध्य कम से कम एक मात्रा का व्यवधान हो। यदि दोनों ओष्ठ्य स्वरों के मध्य आधी मात्रा का व्यवधान होगा, तो एक ही ओष्ठोपसंहार से दोनों स्वरों का उच्चारण हो जाएगा। उदाहरणार्थ - 'उत्पूतशुष्म' शब्द में 'पू' के 'ऊ' तथा 'शु' के 'उ' के मध्य एकाधिक मात्रा का व्यवधान होने से उनका उच्चारण पृथक्-पृथक् किये गये ओष्ठोपसंहार द्वारा होता है। तथा पदादि 'उ' एवं 'पू' के 'ऊ' के मध्य भी एक मात्रा काल का व्यवधान होने से पृथक् ओष्ठोपसंहार होगा। इसी प्रकार 'बाहुवोर्बलम्' में 'हु' के 'उ' एवं 'वो' के 'ओ' के मध्य आधी मात्रा काल का व्यवधान होने से इन दोनों ओष्ठ्य स्वरों का उच्चारण एक ही ओष्ठोपसंहार से हो जाएगा।¹⁴

ऋवर्ण तथा लृवर्ण के उच्चारण के संबंध में आचार्यों में मतैक्य नहीं है। वा० प्रा० के अनुसार ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत ऋकार का उच्चारण-स्थान जिह्वामूल है।¹⁵ तथा हनुमूल 'करण' है।¹⁶ वा० प्रा० के विधान के अनुसार ऐसा स्पष्ट होता है कि ऋवर्ण के उच्चारण में स्थान एवं करण दोनों सक्रिय होकर कार्य करते हैं। वा० प्रा० में विधान किया गया है कि लृवर्ण के उच्चारण में दन्त 'स्थान' तथा जिह्वाग्र 'करण' है।¹⁷ ऋ० प्रा० के अनुसार ऋवर्ण एवं लृवर्ण का उच्चारण-स्थान जिह्वामूल है। तै० प्रा० में यह बतलाया गया है कि ऋकार, ऋकार तथा लृकार के उच्चारण में दोनों जबड़े अधिक समीप में आ जाते हैं तथा जिह्वा के अग्रभाग को वर्स के समीप ले जाया जाता है।¹⁸ वैदिका-भरणकार ने वर्स को इन वर्णों का स्थान एवं जिह्वा और हनु को करण माना है। च० अ० के अनुसार जिह्वामूलीय वर्णों का करण हनुमूल है।¹⁹ जिह्वामूलीय वर्णों में भाष्यकार द्वारा ऋवर्ण का परिगणन किया गया है। इस प्रकार च० अ० इन वर्णों के उच्चारण में जिह्वामूल और हनुमूल दोनों का योगदान मानती है। वस्तुतः जिह्वामूल तथा हनुमूल दोनों परस्पर एक-दूसरे के समीप पहुँच कर स्वर-यंत्र से आती हुई घोष रूप वायु को विकृत करके इन वर्णों की सृष्टि करते हैं। परवर्ती वैयाकरणों ने ऋवर्ण को मूर्धन्य एवं लृवर्ण को दन्त्य ध्वनि स्वीकार किया है। ऋवर्ण और लृवर्ण को सवर्ण सिद्ध करने वाला वार्तिक इन दोनों वर्णों का उच्चारण-स्थान समान स्वीकार करता है।²⁰

वस्तुतः ऋवर्ण एवं लृवर्ण मिश्रित ध्वनियाँ हैं। अतः इनका उच्चारण अन्य स्वरों की अपेक्षा किञ्चित् कठिनता से हो पाता है। इसीलिए परवर्ती काल में ऋवर्ण का उच्चारण जिह्वामूल आदि स्थानों से न होकर मूर्धा स्थान से होने लगा। वैयाकरणों के अनुसार रेफ का भी उच्चारण मूर्धा से ही होता है। अतः ऋवर्ण का उच्चारण 'रि' के सदृश होने लगा। इसी प्रकार लृवर्ण का उच्चारण भी कठिन होने से परवर्ती काल में 'ल्+र्+इ' के रूप में होने लगा।

वा० प्रा० के अनुसार एकार का उच्चारण-स्थान तालु है, तथा तालु स्थान होने से इसके अनुसार एकार के उच्चारण में जिह्वामध्य करण है। अर्थात् अन्दर से आती हुई वायु को, जिह्वा के मध्य भाग को तालु के समीप उठाकर विकृत करके, एकार को उच्चरित किया जाता है। ऋ० प्रा० एवं ॠ० तं० के अनुसार भी एकार का उच्चारण-स्थान तालु ही है। च० अ० भी वा० प्रा० की भाँति एकार को, तालु स्थान एवं जिह्वामध्य-करण द्वारा उत्पन्न होने वाला वर्ण मानती है।²¹ तथा इस वर्ण के उच्चारण में विवृततम आभ्यन्तर प्रयत्न को स्वीकार करती है।²² तै० प्रा० में एकार के उच्चारण के प्रसङ्गों में विशेष विवेचन किया गया है। तै० प्रा० में स्पष्ट कहा गया है कि एकार के उच्चारण में जिह्वामध्य के किनारों से ऊपर वाले जबड़े के मूल के किनारों का स्पर्श करते हैं।²³ तै० प्रा० में यह कहा गया है कि एकार के उच्चारण में दोनों ओष्ठ थोड़े-से फैले हुए रहते हैं। अर्थात् दोनों ओष्ठ परस्पर सन्निकृष्ट नहीं होते। उनमें परस्पर विवृतता होती है। इसके अनुसार एकार के उच्चारण में दोनों जबड़े अत्यन्त समीप में स्थित होते हैं। तै० प्रा० 2। 17 पर वै० में विधान किया गया है कि जिह्वामध्य के किनारों का ऊपर के जबड़े के मूल के किनारों के साथ स्पर्श केवल वहाँ होता है जहाँ पर एकार के पूर्व व्यंजन नहीं उच्चरित होता, तथा जिस एकार के पूर्व व्यंजन भी उच्चरित होगा, उसके उच्चारण में स्पर्श नहीं होता है। तै० प्रा० 2। 23 पर त्रि० के अनुसार व्यंजन-रहित एकार का उच्चारण-स्थान हनुमूल तथा करण जिह्वामध्यान्त है तथा व्यंजन-युक्त एकार का उच्चारण-स्थान तालु एवं करण जिह्वामध्य है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि व्यंजनयुक्त एकार के उच्चारण में जिह्वामध्य को तालु के समीप ले जाते हैं। यद्यपि इवर्ण के उच्चारण में भी जिह्वामध्य को तालु के समीप ले जाया जाता है, परन्तु दोनों अवस्थाओं में अन्तर है। एकार के उच्चारण में जिह्वामध्य को तालु के उतना समीप में नहीं ले जाया जाता, जितना कि इवर्ण

के उच्चारण में ले जाया जाता है, क्योंकि एकार की निष्पत्ति अकार और इकार के योग से होती है। इनमें से अकार के उच्चारण का जिह्वामध्य और तालु से कोई संबंध नहीं है। उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि तै० प्रा० के अनुसार एकार के दो उच्चारण-स्थान हैं। व्यंजन-रहित एकार का उच्चारण-स्थान हनुमूल है एवं व्यंजनयुक्त एकार का उच्चारण-स्थान तालु है। इसी प्रकार उनके करण भी भिन्न-भिन्न हैं। व्यंजनरहित एकार का करण जिह्वामध्यान्त है एवं व्यंजनयुक्त एकार का करण जिह्वामध्य ही है। परन्तु वैदिकाभरणकार के अनुसार व्यंजन-रहित एवं व्यंजनयुक्त दोनों प्रकार के एकार के उच्चारण में हनुमूल 'स्थान' एवं जिह्वामध्य 'करण' है। वैयाकरणों ने एकार को कण्ठ और तालु दोनों स्थानों के योग से उत्पन्न होने वाली ध्वनि माना है। अर्थात् केवल तालु से ही एकार का उच्चारण नहीं हो सकता। वास्तव में एकार की उत्पत्ति दो मूल स्वरों (अ+इ) के योग से होती है। अकार कण्ठस्थानी एवं इकार तालुस्थानी वर्ण होने से एकार के भी उक्त दो उच्चारण-स्थान सिद्ध होते हैं। ऋ० प्रा० में एकार को तालव्य स्वर कहा गया है।²⁴ च० अ० में सूत्रकार एकार को मध्यजिह्वा से उच्चरित होने वाला वर्ण स्वीकार करते हैं। सूत्रकार ने यह नहीं बतलाया है कि कौन-कौन वर्ण तालु से उच्चरित होते हैं। परन्तु भाष्यकार एकार के तालु से उच्चरित होने का उल्लेख करते हैं। तालव्य वर्णों के उच्चारण में जिह्वा का मध्यभाग ऊपर उठकर तालु (कठोर तालु) का स्पर्श करता है अथवा उससे समीपता प्राप्त करता है। ऋ० तं०, वा० प्रा० एवं तै० प्रा० में एकार के उच्चारण के लिए किसी स्वतंत्र उच्चारण-स्थान का उल्लेख नहीं किया गया है। इसका कारण यही है कि एकार भी सन्ध्यक्षर होने से दो स्वरों के मेल से उत्पन्न होने वाला वर्ण है। इन ग्रंथों के अनुसार एकार का उच्चारण दो स्थानों से होता है। वे दो स्थान वही हैं जो इसके मूलभूत स्वर अकार एवं इकार अथवा एकार के उच्चारण में कार्य करते हैं। वा० प्रा० में पूर्ववर्तीमात्रा कण्ठ्यवर्ण (अकार) की है एवं परवर्ती मात्रा तालव्यवर्ण एकार की है। फलतः वा० प्रा० के अनुसार एकार के कण्ठ और तालु दो उच्चारण-स्थान सिद्ध होते हैं। कण्ठ और तालु स्थान होने से 'हनुमध्य' एवं 'जिह्वाग्र' करण सम्भावित हैं। वा० प्रा० के भाष्यकारों का कथन है कि एकार के उच्चारण में पूर्ववर्ती आधी मात्रा कण्ठ्य वर्ण अकार की है एवं परवर्ती डेढ़ मात्रा तालव्यवर्ण एकार की है। अतः एकार के उच्चारण में जिह्वा सर्वप्रथम कण्ठ के समीप जाकर पुनः तालु की ओर अग्रसर हो जाती है। वैयाकरणों ने इसीलिए एकार को कण्ठ्यतालव्य ध्वनि स्वीकार किया है। तै० प्रा० में प्राप्त विधान भी वा० प्रा० में प्राप्त होने वाले विधान से पर्याप्त साम्य रखता है। तै० प्रा० के अनुसार एकार के आदि में अकार की आधी मात्रा होती है। अतः एकार में पूर्ववर्ती आधी मात्रा का उच्चारण अकार के उच्चारण-स्थान एवं करण से होता है। चूँकि अकार का उच्चारण-स्थान हनु एवं करण ओष्ठ है, इसलिए एकार की प्रारंभिक आधी मात्रा का उच्चारण हनु एवं ओष्ठ के माध्यम से होगा। तै० प्रा० के अनुसार एकार के उच्चारण का परवर्ती डेढ़ मात्रा कालिक अंश इकार का होता है।²⁵ अतः एकार का परवर्ती शेष भाग इकार के स्थान एवं करण से उच्चरित होता है। इकार का उच्चारण-स्थान तालु एवं करण जिह्वामध्य है। इस प्रकार एकार के उच्चारण में दो स्थान एवं दो करण कार्य करते हैं। तै० प्रा० में यह भी उल्लेख किया गया है कि कतिपय विद्वान् यह मानते हैं कि एकार के उच्चारण में पूर्ववर्ती अंश अर्थात् अकार का आभ्यन्तर प्रयत्न संवृततर होता है। अर्थात् एकार के अंशभूत अकार के उच्चारण में मुख-विवर बंद सा रहता है। इस कथन का तात्पर्य है कि एकार के प्रारंभिक अंश 'अकार' के उच्चारण में चूँकि ओष्ठ और हनु एक-दूसरे के अत्यधिक समीप आ जाते हैं, परिणामतः मुख-विवर अत्यन्त सकरा हो जाता है। वास्तव में

ऐकार दो स्वर वर्णों के मिश्रित उच्चारण से युक्त होने पर भी एक वर्णवत् श्रुतिगोचर होता है।

वा० प्रा० के अनुसार दीर्घ एवं प्लुत ओकार का उच्चारण स्थान ओष्ठ है तथा वा० प्रा० के अनुसार करण भी ओष्ठ ही है। अर्थात् ओकार के उच्चारण में ऊपर का ओष्ठ स्थान एवं नीचे का ओष्ठ करण है। ऋ० प्रा०, ऋ० तं० तथा च० अ० में भी ओकार को ओष्ठ-स्थानीय वर्ण स्वीकार किया गया है। च० अ० में स्पष्टतः नीचे वाले ओष्ठ को करण कहा गया है। तै० प्रा० में विधान किया गया है कि ओकार के उच्चारण में जबड़े अधिक दूर नहीं होते तथा ओष्ठ परस्पर अधिक समीप में होते हैं। तै० प्रा० पर त्रि० में आचार्य वररुचि और माहिषेय के मत को उद्धृत किया गया है। वररुचि के अनुसार ओकार चाहे व्यंजनयुक्त हो चाहे व्यंजनरहित हो, उसका उच्चारण करते समय ओष्ठों को एक-दूसरे से अधिक दूर नहीं ले जाना चाहिए। जबकि माहिषेय के अनुसार केवल व्यंजन-सहित ओकार का उच्चारण करते समय ही ओष्ठों को एक-दूसरे से अधिक दूर नहीं ले जाना चाहिए। इस प्रकार ओकार के उच्चारण में हनु और ऊपर का ओष्ठ स्थान एवं नीचे का ओष्ठ करण है।

ओकार को भी सभी प्रातिशाख्य कण्ठयोष्ठ्य वर्ण स्वीकार करते हैं। वा० प्रा० में ओकार के सन्ध्यक्षरत्व के विश्लेषण के प्रसंग में सूत्रकार ने कहा है कि ओकार की पूर्ववर्ती मात्रा कण्ठ्य एवं परवर्ती मात्रा ओष्ठ्य वर्ण की है। कण्ठ और ओष्ठ स्थान होने से वा० प्रा० के अनुसार निचले ओष्ठ तथा हनुमध्य को ओकार का करण कहा जा सकता है। तै० प्रा० भी ओकार की द्विस्थानता का विधान करता है। तै० प्रा० में ओकार की परवर्ती डेढ़ मात्रा को ओष्ठ से उच्चरित होने वाली बतलाया गया है क्योंकि उकार का उच्चारण ओष्ठ से ही होता है। तै० प्रा० के आधार पर ओकार की पूर्ववर्ती आधी मात्रा अकार की होने से हनु तथा ओष्ठ को भी इस वर्ण का स्थान स्वीकार किया गया है।

निष्कर्ष (Conclusion)

स्वरों का उच्चारण अबाध होता है। इनके उच्चारण में जिह्वा की विभिन्न स्थितियों द्वारा नियमित वायु को ही विभिन्न स्वरों का नाम दिया जाता है। वायु का प्रवाह तो सभी स्वरों के उच्चारण में वस्तुतः समान ही रहता है, किन्तु जिह्वा एवं ओष्ठ आदि की स्थितियों के कारण उनमें भिन्नता होती है।

संदर्भ (Reference)

1. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य - 2 | 21
2. तै० प्रा० - 2 | 21
3. ऋक् प्रातिशाख्य
4. वाजसनेयि प्रातिशाख्य 1 | 84 पर ज्योत्स्ना वृत्ति
5. पाणिनि सूत्र 1 | 1 | 9 पर महाभाष्य
6. आपिशलि शिक्षा - 1 | 2
7. ऋक् प्रातिशाख्य - 14 | 65
8. 08 ऋ० प्रा० - 13 | 15
9. तै० प्रा० - 2 | 20
10. पा० सू० - 1 | 1 | 2 पर महाभाष्य
11. तै० प्रा० - 2 | 22
12. तै० प्रा० - 2 | 24
13. तै० प्रा० 2 | 24 पर त्रिभाष्यरत्न
14. वा० प्रा० 2 | 25
15. वा० प्रा० 1 | 65
16. वा० प्रा० 1 | 83
17. वा० प्रा० 1 | 69, 1 | 79
18. तै० प्रा० 2 | 18
19. चतुर्ध्यायिका - 1 | 20
20. पा० सू० 1 | 1 | 9 पर वार्तिक
21. च० अ० - 1 | 21

22. च० अ० – 1 | 34
23. तै० प्रा० – 2 | 17
24. ऋ० प्रा० – 1 | 42
25. तै० प्रा० – 2 | 28